133

भारत का विधि आयोग

अप्राप्तवय बालकों की संरक्षकता और अभिरक्षा से सम्बन्धित मामलों में स्त्रियों के विरुद्ध विभेद को दूर करने और कल्याण सिद्धांत के विस्तार पर एक सौ तैंतीसवीं रिपोर्ट

1989

एम० पी० ठक्कर
अध्यक्ष

विधि आयोग,
भारत सरकार
शास्त्री भवन,
नई दिल्ली ।

अ० श० सं० 6(6) /89-वि० आ० (एलएस)

29 अगस्त, 1989

सेवा में

श्री वी० शंकरानंद,
विधि और न्याय मंत्री,
भारत सरकार,
शास्त्री भवन,
नई दिल्ली ।

प्रिय मंत्री जी,

विधि आयोग की इसके द्वारा प्रस्तुत एक सौ तैंतीसवीं रिपोर्ट, "स्त्रियों" की, जिनके साथ "पुरुषों" के मुकाबले में अभी तक कई क्षेत्रों में समान बर्ताव नहीं किया गया है, प्रति-पूर्ति करन की समाज की चिंता को प्रतिबिंबित करती है । रिपोर्ट का शीर्षक स्वतः स्पष्ट है :—

"अप्राप्तवय बालकों की संरक्षकता और अभिरक्षा से संबंधित मामलों में स्त्रियों के विरुद्ध विभेद को दूर करना और कल्याण सिद्धांत का विस्तार"

नैसर्गिक संरक्षकता की मान्यता से संबंधित और अप्राप्तवयों के शरीर और संपत्ति के लिए न्यायालय द्वारा संरक्षकों को नियुक्त करने से संबंधित विधियों के कार्यकरण की परीक्षा करने के संदर्भ में यह प्रयोग स्वप्रेरणा से किया गया जिसका परिणाम यह रिपोर्ट है । आयोग का प्रयास रहा है (1) "स्त्रियों" के विरुद्ध उनकी योग्यता और सामर्थ्य के प्रति शताब्दियों पुराने अविश्वास में मूलित विभेद को दूर करना, जो संभवतः इस भावना से उत्पन्न होता है कि "स्त्रियां" "पुरुषों" से हीन हैं; और (2) यह सुनिश्चित करना कि अप्राप्तवय बालकों के कल्याण से संबंधित समाज का अतिप्रबल विचार संरक्षकता के विषय के अवधारण को उसके भाव और अंतश्चेतना के अनुसार अनुप्राणित करता है ।

यह आशा की जाती है कि इस रिपोर्ट में की गई सिफारिशों पर "स्त्रियों" की न्यायसम्मत शिकायतों को दूर करने और अप्राप्तवय बालकों के हितों का यथाशीघ्र संरक्षण करने की आवश्यकता की दृष्टि से शीघ्र ही विचार-विमर्श किया जाएगा ।

अभिवादन सहित,

भवदीय
ह० /-
(एम० पी० ठक्कर)

संलग्नक : एक सौ तैंतीसवीं रिपोर्ट

विषय-वस्तु

		पृष्ठ
अध्याय-1	प्रस्तावना	1
अध्याय-2	वर्तमान विधि	3
अध्याय-3	कल्याण सिद्धांत को लागू करने में कुछ महत्वपूर्ण बातों को स्पष्ट करने की और इस दिशा में सुसंगत उपबंधों के प्रवर्धन की आवश्यकता	7
अध्याय-4	विद्यमान विधि में "क्या" परिवर्तन करने अपेक्षित हैं और "क्यों" ?	13
अध्याय-5	सिफारिशें	19
टिप्पण और निर्देश		22

अध्याय 1

प्रस्तावना

1.1. यह स्वतन्त्रता-पूर्व और संविधान पूर्व युग में हुआ था कि असमान बर्ताव और सामाजिक अन्याय के विरुद्ध स्त्रियों की अभ्यापत्ति ने संताप के विलाप का रूप धारण किया— स्त्री — तुम्हारा नाम अभाग्य है । स्वतन्त्रता पश्च और संविधान पश्च युग में विरोध ने अग्रवादी मोड़ ले लिया है और स्त्रियों के संगठन समता की उत्साहपूर्वक मांग कर रहे हैं और अपने अधिकारों के लिए मांग कर रहे हैं । समाज ने कई क्षेत्रों में उनकी न्यायसंगत मांगों के प्रति सकारात्मक प्रतिक्रिया की है । विधानमंडल और न्यायपालिका ने भी अपने-अपने क्षेत्रों में समस्या के प्रति जागरूकता दिखाई है । भारत का विधि आयोग भी स्त्रियों की न्यायपूर्ण शिकायतों को दूर करने के लिए प्रयास कर रहा है और प्रयास करने में लगा हुआ है । वर्तमान प्रयास इस दिशा में एक और कदम है ।

1.2. स्वतन्त्रता पश्च अवधि में "स्त्री अधिकार विधि शास्त्र" की वृद्धि और विकास के क्षेत्र में पुरुष के मुकाबले में स्त्री को समान अधिकार देने के लिए कई विधायी उपाय भले ही किए गए हैं तथापि अब भी ऐसे क्षेत्र हैं जहां द्वेषपूर्ण विभेद विद्यमान हैं। विद्यमान विधि के अनुसार किसी अप्राप्तवय संतान की (चाहे लड़का हो या अविवाहित लड़की) अभिरक्षा की बाबत नैसर्गिक संरक्षक प्रथमतः पिता और उसके पश्चात् माता है । प्रश्न उठता है कि कल्याण सिद्धांत के होते हुए भी, माता के विरुद्ध पिता को अधिमान देना, संविधान में उपबन्धों के, जो यह निदेश देते हैं कि राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध— धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा, प्रकाश में न्यायोचित यह तथ्य कि किसी अप्राप्तवय की अभिरक्षा से सम्बन्धित मामले की बाबत किसी पुरुष के मुकाबले में किसी स्त्री को असमान या किसी पुरुष से अवर माना जाता है, इस विषय पर विधि पर विचार करने और उसके पुनरीक्षण की सिफारिश करने के लिए आवश्यक औचित्य प्रदान करता है ।

1.3. बालकों की अभिरक्षा के सम्बन्ध में विधि ("माता" पर अधिमान देकर) "पिता" को नैसर्गिक संरक्षक के रूप में मान्यता प्रदान करने वाली विधि और उन उपबन्धों की, जो वास्तव में स्त्री को द्वितीय श्रेणी नागरिक मानते हैं, बारीकी से छान-बीन करने की अपेक्षा है । इस मूल तथ्य की अवहेलना करते हुए कि यह माता ही है जो बालक के जन्म के पूर्व भी लगभग नौ मास के लिए शारीरिक पीड़ा सहन करती है जबकि पिता ऐसी कोई पीड़ा सहन नहीं करता है और यह भी कि यह माता ही है जो बालक के, जिसे निरन्तर ध्यान और स्नेह की आवश्यकता होती है, शिशुकाल के दौरान दो-चार वर्षों के लिए बालक के पालन-पोषण में अपने समय, अन्य कार्यों और सुखों का बलिदान करती है, माता के विरुद्ध पिता को अधिमान देना क्या उचित है ? क्या तब भी किसी स्त्री को, जो एक माता है अप्राप्तवय बालक की अभिरक्षा या इसके शरीर और सम्पत्ति की संरक्षकता के मामले में मात्र उसके लिंग के कारण कम उपयुक्त समझा जाना चाहिए ? देश की विधि में ऐसे द्वेषपूर्ण विभेद का कानूनी मान्यता प्रदान करने के लिए कोई युक्तिसंगत आधार प्रतीत नहीं होता । इस विषमता के लिए कारण का इस पारंपारिक विश्वास से पता चलता है कि नारी एक अवर प्राणि और पुरुष एक वरिष्ठ प्राणी है कि पुरुष निमित्त ऐसा पक्षपात और नारी विरुद्ध प्रतिकूल विचार 26 जनवरी, 1950 को भारत के संविधान के

प्रवृत्त होने के पश्चात् भी लगातार बना रहे, दुर्भाग्यपूर्ण है क्योंकि अनुच्छेद 15(1) में उत्कीर्ण संवैधानिक निदेश लिंग पर आधारित ऐसे विभेद पर अप्रसन्नता दर्शित करता है :—

"15. (1) राज्य, किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा।"

और तथ्यस्वरूप, अनुच्छेद 15(3) के द्वारा स्त्रियों और बालकों के प्रति विद्यमान अन्याय को उलटने के लिए विशेष उपबंध करने का विवक्षित रूप से अनुमोदन करता है ।

"15. (3) इस अनुच्छेद की कोई बात राज्य को स्त्रियों और बालकों के लिए कोई विशेष उपबंध करने से निवारित नहीं करेगी ।"

इसी कारण से इस बात की स्वप्रेरणा से जांच करना और उस विधि में परिवर्तन करने के लिए, जो इस समय स्त्री के विरुद्ध है उपयुक्त सिफारिश करने के लिए विशेष रूप से वांछनीय समझा गया है ।

1.4. इसलिए इस रिपोर्ट का जीवन उद्देश्य, संविधान के भाव का आदर करते हुए, इस संवेदनशील क्षेत्र में स्त्री के प्रति अन्याय को मिटाना है । और इस उद्देश्य से हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 के सुसंगत उपबंधों तथा संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 के सम्बद्ध उपबंधों की भी तथा "कल्याण सिद्धांत" के कार्यकरण की संवीक्षा की जा रही है और उपयुक्त सिफारिशें इस रिपोर्ट में की जा रही हैं ।

अध्याय 2

वर्तमान विधि

2.1. अभिरक्षा की बाबत न्यायिक आदेश :—हिन्दू अप्राप्तवय बालकों से सम्बन्धित विधि मुख्यतया हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 13 के साथ पठित उस अधिनियम की धारा 6 में दी गई है। जहां अभिरक्षा के बारे में आदेश पारित करने के लिए न्यायालय से संसर्ग किया जाता है वहां संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 की धारा 25 और उस अधिनियम के कुछ और उपबन्ध प्रवर्तन में आ जाते हैं।

जैसा कि सुविख्यात है अप्राप्तवयों की अभिरक्षा और अप्राप्तवयों के कल्याण से भी संबंधित कुछ अन्य बातों के सम्बन्ध में आदेश तब पारित किए जाते हैं जब कोई विवाह विघटित हो जाता है या विवाह के पक्षकारों को हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अधीन कोई अन्य अनुतोष दिया जाता है । इसके अतिरिक्त, भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 या अनुच्छेद 32 के अधीन बंदी प्रत्यक्षीकरण की याचिकाओं में अभिरक्षा सम्बन्धी प्रश्न भी अंतर्वलित हो सकते हैं । कई अवसरों पर दांडिक न्यायालयों से अप्राप्तवय बालकों की अभिरक्षा की बाबत निदेश जारी करने की अपेक्षा की जा सकती है । किन्तु वर्तमान रिपोर्ट इस पैरा के पहले पैरा में निर्दिष्ट कानूनी उपबंधों पर मुख्य रूप से केंद्रित है ।

2.2. हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 :—हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 6 निम्न प्रकार है :—

"6. हिन्दू अप्राप्तवय के नैसर्गिक संरक्षक अप्राप्तवय के शरीर के बारे में और (अविभक्त कुटुंब की सम्पत्ति में उसके अविभक्त हित को छोड़कर) उसकी सम्पत्ति के बारे में भी, निम्नलिखित है :—

(क) किसी लड़के या अविवाहिता लड़की की दशा में—पिता और उसके पश्चात् माता, परन्तु जिस अप्राप्तवय ने पांच वर्ष की आयु पूरी न कर ली हो उसकी अभिरक्षा मामूली तौर पर माता के हाथ में होगी ;

(ख) अधर्मज लड़के या अधर्मज अविवाहिता लड़की की दशा में—माता और उसके पश्चात् पिता;

(ग) विवाहिता लड़की की दशा में—पति;

परन्तु जब कोई भी व्यक्ति यदि—

(क) वह हिन्दू नहीं रह गया है, या

(ख) वह वानप्रस्थ या यति या सन्यासी होकर संसार को पूर्णतः और अंतिम रूप से त्याग चुका है,

तो इस धारा के उपबंधों के अधीन अप्राप्तवय के नैसर्गिक संरक्षक के रूप में कार्य करने का हकदार न होगा ।"

2.3. 1956 के अधिनियम की धारा 13 :—हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 6 का पठन उस अधिनियम की धारा 13 के साथ करना चाहिए जो नीचे उत्कथित है :—

"**13. अप्राप्तवय का कल्याण सर्वोपरि होगा :**—(1) न्यायालय द्वारा किसी भी व्यक्ति के किसी हिन्दू अप्राप्तवय का संरक्षक नियुक्त या घोषित किए जाने में अप्राप्तवय के कल्याण पर सर्वोपरि ध्यान रखा जाएगा ।

(2) यदि किसी भी व्यक्ति के विषय में न्यायालय की यह राय है कि उसके संरक्षक होने में अप्राप्तवय का कल्याण न होगा तो वह व्यक्ति इस अधिनियम के उपबंधों के आधार पर या ऐसी किसी भी विधि के आधार पर, जो हिन्दुओं में विवाहार्थ संरक्षकता के बारे में हो, संरक्षकता का हकदार न होगा ।

2.4. नैसर्गिक संरक्षकों की बाबत उपबंध के विशेषक :—यह देखा जाए कि भले ही हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम की धारा 6(क) घोषित करती है कि किसी लड़के या अविवाहिता लड़की की दशा में—पिता और उसके पश्चात् माता हिन्दू अप्राप्तवय के नैसर्गिक संरक्षक हैं, यह प्रतिपादना नीचे वर्णित दो विशेषकों के अध्यधीन हैं:—

(1) धारा 6 के परंतुक में यह अधिकथित है कि जिस अप्राप्तवय ने पांच वर्ष की आयु पूरी न कर ली हो उसकी अभिरक्षा मामूली तौर पर माता के हाथ में होगी,

(2) द्वितीयतः धारा 13(1) में अधिकथित है कि न्यायालय द्वारा किसी भी व्यक्ति के हिन्दू अप्राप्तवय का संरक्षक नियुक्त या घोषित किए जाने में अप्राप्तवय के कल्याण पर सर्वोपरि ध्यान रखा जाएगा । उसी धारा की उपधारा (2) में अन्य बातों के साथ-साथ यह उपबंध है कि यदि किसी भी व्यक्ति के विषय में न्यायालय की यह राय हो कि उसके संरक्षक होने में अप्राप्तवय का कल्याण न होगा तो वह व्यक्ति इस अधिनियम के उपबंधों के आधार पर संरक्षकता का हकदार न होगा ।

इस प्रकार यह ऋजुपूर्वक स्पष्ट है कि यदि मामला न्यायालय के समक्ष आता है तो न्यायालय को अप्राप्तवय का कल्याण देखना होगा न कि संरक्षकता के बारे में मात्र विधिक उपबंधों को । इस भाव से धारा 6, धारा 13 के अध्यधीन है । वह मात्रा, जिस तक सही विधिक स्थिति का न्यायालयों द्वारा, विशेषकर विचारण न्यायालय द्वारा अधिमूल्यन किया गया है, ऐसा मामला है जिसका परीक्षण इस रिपोर्ट में बाद में किया जाएगा ।

2.5. संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 :—अब हम संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 के प्रति निर्देश कर सकेंगे, जो अब बड़े महत्व का है, जब मामला इस अधिनियम के अधीन विशेषकर अभिरक्षा के लिए किसी आवेदन के रूप में न्यायालय के समक्ष आता है, उस अधिनियम की धारा 7 में यह उपबंध है कि जहां न्यायालय का समाधान हो जाता है कि अप्राप्तवय का इसमें कल्याण है कि (क) उसके शरीर या सम्पत्ति, या दोनों के लिए संरक्षक की नियुक्ति करने वाला, अथवा (ख) किसी व्यक्ति को ऐसा संरक्षक घोषित करने वाला आदेश किया जाए, वहां न्यायालय तदनुसार आदेश कर सकेगा । उस अधिनियम की धारा 17(1) में यह और उपबंध है कि अप्राप्तवय का संरक्षक नियुक्त या घोषित करने में उस धारा के अध्यधीन रहते हुए, न्यायालय उस विधि से संगत, जिसके अप्राप्तवय अध्यधीन है, उस बात से मार्गदर्शित होगा, जो उन परिस्थितियों में अप्राप्तवय के कल्याण के लिए प्रतीत हों ।

उस अधिनियम की धारा 17(2) में उन बातों का वर्णन है जिनको न्यायालय, अप्राप्तवय के कल्याण पर विचार करते समय, गणना में लेगा । यह कथन करना अनावश्यक है कि संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करते समय न्यायालय अप्राप्तवय के कल्याण को सर्वोपरि महत्व देगा और अप्राप्तवय के नैसर्गिक संरक्षक के रूप में कार्य करने के किसी व्यक्ति के किसी "अधिकार" को नहीं ।

2.6. 1890 के अधिनियम में प्रक्रिया सम्बन्धी धाराएं :—संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम के अधीन कृत्य करने वाले न्यायालय के समक्ष वास्तविक कार्यवाहियां कई प्रकार के रूप धारण कर सकती हैं । वर्तमान प्रयोजन के लिए प्रक्रिया सम्बन्धी दृष्टिकोण से उस अधिनियम की दो धाराएं महत्वपूर्ण हैं । वे धारा 19 और धारा 25 हैं । धारा 19 का तब आश्रय लिया जाता है जब न्यायालय के समक्ष याची किसी व्यक्ति की, संरक्षक के रूप में, नियुक्ति या घोषणा के बारे में आदेश चाहता है । धारा 25 का आश्रय तब लिया जाता है जब न्यायालय के समक्ष याची उस रूप में संरक्षकता की नियुक्ति या घोषणा न चाहते हुए, किसी अप्राप्तवय की अभिरक्षा के बारे में न्यायालय से आदेश अभिप्राप्त करने की वांछा करता है । जैसा कि सुविख्यात है "संरक्षकता" की संकल्पना "अभिरक्षा" की संकल्पना से अधिक व्यापक है । निस्संदेह संरक्षकता के अन्तर्गत अभिरक्षा भी है, यह ऐसा पहलू है जो आनुषंगिक रूप से हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम की धारा 4 में मान्यता प्राप्त है जब इसमें अन्य बातों के साथ-साथ यह उपबंध होता है कि "संरक्षक" शब्द से ऐसा व्यक्ति अभिप्रेत है जो किसी अप्राप्तवय के शरीर की या उसकी सम्पत्ति की या दोनों की देखरेख करता है ।

2.7. 1890 के अधिनियम की धाराएं उत्कथित :—सुविधापूर्ण निर्देश के लिए हम संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 की सुसंगत धाराएं जैसी वे इस समय हैं, नीचे उत्कथित करते हैं :—

"**7. संरक्षकता के बारे में न्यायालय की आदेश करने की शक्ति :**—(1) जहां कि न्यायालय का समाधान हो जाता है कि अप्राप्तवय का इसमें कल्याण है कि:—

(क) उसके शरीर या सम्पत्ति या दोनों के लिए संरक्षक की नियुक्ति करने वाला, अथवा

(ख) किसी व्यक्ति को ऐसा संरक्षक घोषित करने वाला,

आदेश किया जाए, वहां न्यायालय तदनुसार आदेश कर सकेगा ।

(2) इस धारा के अधीन दिए गए आदेश से यह विवक्षित होगा कि कोई भी संरक्षक, जो बिल या अन्य लिखत द्वारा नियुक्त या न्यायालय द्वारा नियुक्त या घोषित नहीं किया गया है, हटा दिया गया है ।

(3) जहां कि कोई संरक्षक बिल या अन्य लिखत द्वारा नियुक्त या न्यायालय द्वारा नियुक्त या घोषित किया गया है, वहां उसके स्थान पर दूसरे व्यक्ति को संरक्षक नियुक्त या घोषित करने का इस धारा के अधीन कोई आदेश तब तक नहीं किया जाएगा जब तक पूर्वोक्त नियुक्त या घोषित संरक्षक, की शक्तियां इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन समाप्त न हो गई हों ।"

"**17. संरक्षक नियुक्त करने में न्यायालय द्वारा विचारणीय बातें :**— (1) अप्राप्तवय का संरक्षक नियुक्त या घोषित करने में इस धारा के अध्यधीन रहते हुए, न्यायालय उस विधि से संगत, जिसके अप्राप्तवय अध्यधीन हैं, उस बात से मार्गदर्शित होगा, जो उन परिस्थितियों में अप्राप्तवय के कल्याण के लिए प्रतीत हों ।

(2) यह विचार करने में कि अप्राप्तवय के लिए क्या कल्याणकर होगा, न्यायालय अप्राप्तवय की आयु, लिंग और धर्म, प्रस्थापित संरक्षक के शील और सामर्थ्य तथा अप्राप्तवय के रक्त सम्बन्ध में उसकी निकटता, मृत जनक की इच्छाओं को, यदि कोई हों, और अप्राप्तवय से या उसकी सम्पत्ति से प्रस्थापित संरक्षक के किसी वर्तमान या पूर्वतम सम्बन्धों को ध्यान में रखेगा ।

(3) यदि अप्राप्तवय इतनी आयु का है कि वह बुद्धिमत्तापूर्ण अधिमान कर सकता है तो न्यायालय इस अधिमान पर विचार कर सकेगा ।

(4) 1951 के अधिनियम 3 द्वारा लोप किया गया ।

(5) न्यायालय किसी व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरुद्ध संरक्षक नियुक्त या घोषित नहीं करेगा ।

"19. **कतिपय दशाओं में न्यायालय द्वारा संरक्षक नियुक्त न किया जाना** :—इस अध्याय की कोई बात न्यायालय को प्राधिकृत न करेगी कि वह ऐसे अप्राप्तवय की, जिसकी सम्पत्ति प्रतिपाल्य अधिकरण के अधीक्षण के अधीन है, सम्पत्ति का संरक्षक नियुक्त या घोषित करे, अथवा—

(क) उस अप्राप्तवय के, जो विवाहिता नारी है और जिसका पति न्यायालय की राय में उसके शरीर का संरक्षक होने के अयोग्य नहीं है, अथवा

(ख) उस अप्राप्तवय के, जिसका पति जीवित है और न्यायालय की राय में अप्राप्तवय के शरीर का संरक्षक होने के अयोग्य नहीं है, अथवा

(ग) उस अप्राप्तवय के, जिसकी सम्पत्ति उसके शरीर का संरक्षक नियुक्त करने के लिए सक्षम प्रतिपाल्य अधिकरण के अधीक्षण के अधीन है, शरीर का संरक्षक नियुक्त या घोषित करे"।

"25. **प्रतिपाल्य की अभिरक्षा का संरक्षक का हक** :— (1) यदि अप्राप्तवय अपने शरीर के संरक्षक की अभिरक्षा को छोड़ देता है या उसे हटा दिया जाता है, तो यदि न्यायालय इस राय का है कि प्रतिपाल्य के लिए यह कल्याणकार होगा कि वह संरक्षक की अभिरक्षा में लौट आए, तो वह उसके लौट आने के लिए आदेश कर सकेगा और उस आदेश का प्रवर्तन कराने के प्रयोजन से प्रतिपाल्य को गिरफ्तार करा सकेगा और संरक्षक की अभिरक्षा में रखे जाने के लिए उसे परिदत्त करा सकेगा ।

(2) प्रतिपाल्य की गिरफ्तारी के प्रयोजन से न्यायालय दंड प्रक्रिया संहिता, 1882 की धारा 100 द्वारा प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट को प्रदत्त शक्ति का प्रयोग कर सकेगा ।

(3) ऐसे व्यक्ति के पास, जो उसका संरक्षक नहीं है, प्रतिपाल्य का अपने संरक्षक की इच्छा के विरुद्ध निवास, स्वतः संरक्षकता का पर्यवसान नहीं कर देता है"।

"41. **संरक्षक के प्राधिकार का अंत हो जाना** :— (1) शरीर के संरक्षक की शक्तियों का अंत—

(1) * * * *

(2) * * * *

(3) * * * *

(4) * * * *

(5) ऐसे प्रतिपाल्य की दशा में जिसका पिता प्रतिपाल्य के शरीर का संरक्षक होने के अयोग्य था, पिता के ऐसा न रहने से या, यदि पिता न्यायालय द्वारा ऐसे अयोग्य समझा गया था, तो न्यायालय की राय में उसके ऐसा न रहने से,

हो जाता है ।

अध्याय 3

कल्याण सिद्धांत को लागू करने में कुछ महत्वपूर्ण बातों को स्पष्ट करने की और इस दिशा में सुसंगत उपबंधों के प्रवर्धन की आवश्यकता

3.1. किसी बालक के पालन-पोषण, बालक की शारीरिक और भावुक आवश्यकताओं के लिए व्यवस्था करने, और बालक के व्यक्तित्व और भीतरी संसार को बनाने, बालक को अपनी संभाव्य योग्यता दिखाने के लिए समर्थ बनाने, जिससे कि बालक, जब वह प्राप्तवय हो जाता है, समाज के कल्याण में अधिकतम अंशदान करने में समर्थ हो, उसे बाधाओं से, जो उसके मार्ग में अड़चन डालें, भयोपरत हुए बिना सृजनकारी और उपयोगी जीवन व्यतीत करने के लिए समर्थ बनाने की बाध्यता और जिम्मेदारी माता-पिता दोनो की है यह पिता का भी उतना कर्तव्य है जितना यह माता का कर्तव्य है । इसलिए जब मामला न्यायालय में पहुंचता है और अप्राप्तवय के किसी संरक्षक को नियुक्त करने और उसकी अभिरक्षा सौंपने का प्रश्न उभर कर सामने आता है तब पिता और माता के "अधिकारों" की बात करना कुछ असंगत है । न्यायालय समाज की ओर से कार्य करते हुए बालक के "कल्याण" का सर्वोपरि ध्यान रखकर समस्या का समाधान करेगा, यही कारण है कि कल्याण सिद्धान्त को हिन्दू अप्राप्तवय और संरक्षता अधिनियम की धारा 13 में तथा संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम की धारा 17 में भी प्रबलता दी गई है इन उपबंधों के प्रति निर्देश अध्याय 2 में किए गए हैं पैरा 2.3 और पैरा 2.7 देखिए सुविधापूर्ण निर्देश के लिए इन उपबंधों के उद्धरण देना समीचीन होगा ।

3.2. हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 में यह उपबंध है कि :—

"13. **अप्राप्तवय का कल्याण सर्वोपरि होगा** :—(1) न्यायालय द्वारा किसी भी व्यक्ति के किसी हिन्दू अप्राप्तवय का संरक्षक नियुक्त या घोषित किए जाने में अप्राप्तवय के कल्याण पर सर्वोपरि ध्यान रखा जाएगा ।

(2) यदि किसी भी व्यक्ति के विषय में न्यायालय की यह राय हो कि उसके संरक्षक होने में अप्राप्तवय का कल्याण न होगा तो वह व्यक्ति इस अधिनियम के उपबंधों के आधार पर या ऐसी किसी भी विधि के आधार पर जो हिन्दुओं में विवाहार्थ संरक्षकता के बारे में हो, संरक्षकता का हकदार न होगा" ।

संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 की धारा 17 में यह विहित है :—

"17. **संरक्षक नियुक्त करने में न्यायालय द्वारा विचारणीय बातें** :—(1) अप्राप्तवय का संरक्षक नियुक्त या घोषित करने में इस धारा के उपबंधों के अध्यधीन रहते हुए, न्यायालय उस विधि से संगत, जिसके अप्राप्तवय अध्यधीन हैं, उस बात से मार्गदर्शित होगा, जो उन परिस्थितियों में अप्राप्तवय के कल्याण के लिए प्रतीत हो ।

(2) यह विचार करने में कि अप्राप्तवय के लिए क्या कल्याणकर होगा, न्यायालय अप्राप्तवय की आयु, लिंग और धर्म, प्रस्थापित संरक्षक के शील और सामर्थ्य तथा अप्राप्तवय के रक्त सम्बन्ध में उसकी निकटता, मृत जनक की इच्छाओं को यदि कोई हों और अप्राप्तवय से या उसकी सम्पत्ति से प्रस्थापित संरक्षक के किसी वर्तमान या पूर्वतन सम्बन्धी को ध्यान में रखगा ।

(3) यदि अप्राप्तवय इतनी आयु का है कि वह बुद्धिमत्तापूर्ण अधिमान कर सकता है तो न्यायालय उस अधिमान पर विचार करेगा ।

(4) 1951 के अधिनियम 3 द्वारा लोप किया गया ।

(5) न्यायालय किसी व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरुद्ध संरक्षक नियुक्त या घोषित नहीं करेगा" ।

कल्याण सिद्धांत को इस प्रकार मान्यता प्राप्त हुई है । क्योंकि कुछ मुख्य और महत्वपूर्ण बातें स्पष्ट नहीं की गई हैं इसलिए कई बार, विशेषकर विचारण न्यायालय में, कल्याण सिद्धांत का सही निर्वचन नहीं किया जाता और न्यायालय के समक्ष आने वाले मामले में प्रस्तुत तथ्य सम्बन्धी स्थिति को सही रूप से लागू नहीं किया जाता । परिणाम यह है कि अप्राप्तवय की संरक्षकता और अभिरक्षा सम्बन्धी महत्वपूर्ण और संवेदनशील प्रश्न कई बार धुंधली स्थिति में रहता है और अप्राप्तवय की अभिरक्षा किसी ऐसे व्यक्ति के पास बनी रहती है जिसके पास ऐसी अभिरक्षा कल्याण सिद्धांत के प्रकाश में नहीं रहनी चाहिए । इसके अतिरिक्त, कई दशाओं में मामले को उच्च न्यायालय में ले जाने के लिए, विरोधी पक्षकारों के पास संसाधन न हों और इससे अप्राप्तवय के हित पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है यह इस पृष्ठभूमि में है कि स्वयं सुसंगत कानून में कल्याण सिद्धांत को लागू करने में कुछ महत्वपूर्ण बातों को स्पष्ट करने की आवश्यकता से सम्बन्धित विषय पर विचार करने की आवश्यकता है ।

3.3. इस बात को सिद्ध करने के लिए, कि कल्याण सिद्धांत को विचारण न्यायालय द्वारा कई बार लागू नहीं किया जाता है, कुछ प्रकाशित निर्णयों का उपयोगी रूप में परीक्षण किया जा सकता है :—

आन्ध्र प्रदेश से मामला

(1) आन्ध्र प्रदेश से हाल ही के एक मामले के प्रति निर्देश किया जा सकता है क्योंकि इसके तथ्य विचित्र[1] हैं । एक हिन्दू स्त्री ने अपने पति द्वारा क्रूरता और अभित्यजन के आधार पर एकपक्षीय विवाह-विच्छेद अभिप्राप्त किया, हिन्दू रहते हुए डिक्री से 6 मास की समाप्ति के पश्चात् उसने (विशेष विवाह अधिनियम के अधीन) एक ख्रिश्चन से विवाह कर लिया । पति ने, सूचना के बिना एकपक्षीय रूप में यथापारित डिक्री अपास्त करा ली । उस स्त्री ने उच्च न्यायालय में पुनरीक्षण याचिका की । इस याचिका के लंबित रहते हुए पति ने बालकों को ले जाने का प्रयत्न किया । वह स्त्री तब ऐसा करने से पति को अवरुद्ध करने के लिए व्यादेश के लिए वाद लाई और उसने यथापूर्व स्थिति बनाए रखने का एक अंतरिम आदेश प्राप्त किया । पति अर्थात् पिता ने तब 3 बालकों की (2 लड़के जिनकी आयु लगभग 15 वर्ष और 10 वर्ष और एक लड़की जिसकी आयु लगभग 12 वर्ष थी) अभिरक्षा के लिए, 1890 के अधिनियम की धारा 25 के अधीन आवेदन किया । विचारण न्यायालय द्वारा उसका आवेदन मंजूर कर लिया गया, किन्तु माता ने उच्च न्यायालय में अपील की और वह सफल हो गई। उच्च न्यायालय अभिनिर्धारित किया कि किसी विभिन्न धर्म के किसी व्यक्ति के साथ पुनर्विवाह (स्वयं) माता के विरुद्ध एक नकारात्मक कारण नहीं हो सकता । अप्राप्तवयों के हित में उन्हें माता के पास रहने की अनुज्ञा दी जानी चाहिए। माता के विरुद्ध ऐसी कोई बात नहीं थी जिससे बालकों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता ।

मुम्बई का पूर्वतर मामला

(2) मुम्बई के एक पूर्वतम मामले[2] में भी यह पाया गया कि विचारण न्यायालय ने कल्याण सिद्धांत की अवहेलना की । इस मामले में, पिता द्वारा आवेदन संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 के अधीन उसके संरक्षक के रूप में नियुक्त किए जाने के लिए था किन्तु वह आवेदन उस अधिनियम की धारा 25 के अधीन आवेदन माना गया। लड़के की आयु लगभग 7 वर्ष थी और पिछले 5 वर्षों से वह माता के साथ रह

रहा था । पिता ने दूसरी पत्नी से विवाह कर लिया था । कल्याण सिद्धांत की अवहेलना करते हुए विचारण न्यायालय ने आवेदन मंजूर कर लिया । माता की अपील पर, उच्च न्यायालय ने विचारण न्यायालय का निर्णय उलट दिया । उच्च न्यायालय की राय में बालक का कल्याण इसमें था कि उसकी अभिरक्षा माता के पास बनी रहे क्योंकि पिता ने दोबारा विवाह कर लिया था और बालक के कल्याण में हितबद्ध होने की सौतेली माता से प्रत्याशा नहीं की जा सकती और पूर्व पीढ़ी के किन्हीं सदस्यों द्वारा, जो पिता के साथ रह रहे हों, बालक को अपेक्षित ध्यान और सहानुभूति रखने की भी सम्भाव्यता नहीं थी ।

मुम्बई के पश्चात्वर्ती मामले

(3) मुम्बई के एक पश्चात्वर्ती मामले[3] में, लगभग 2 वर्ष की आयु के एक लड़के के पिता ने संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 की धारा 25 के अधीन अभिरक्षा लिए आवेदन किया । पिता ने दूसरी पत्नी से विवाह कर लिया था और उसका आवेदन विचारण न्यायालय द्वारा मंजूर कर लिया गया किन्तु अपील में, उच्च न्यायालय ने इसे खारिज कर दिया । उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि सर्वोपरि विचारणीय बात बालक का हित होनी चाहिए न कि माता-पिता के अधिकार और यदि बालक का भारसाधन करने के लिए माता उपयुक्त व्यक्ति है तो कोमल वयस के बालक की अभिरक्षा के लिए माता का पर्याप्त प्रतिस्थानी पाना अत्यन्त असम्भव है । इसके अतिरिक्त एक सौतेली माता से बालक को अपेक्षित ध्यान, प्यार और सहानुभूति देने की सम्भावना नहीं है।

(4) मुम्बई के (1959[4] के) एक अन्य मामले में माता ने अपनी अप्राप्तवय पुत्री की जिसकी आयु लगभग 2-1/2 वर्ष थी, अभिरक्षा के लिए 1898 के अधिनियम की धारा 25 के अधीन आवेदन किया । विचारण न्यायालय ने कल्याण सिद्धांत को संकुचित रूप से लागू किया और आवेदन खारिज कर दिया । अपील पर, उच्च न्यायालय ने माता का आवेदन मंजूर कर लिया । उच्च न्यायालय ने पिता को लड़की माता के हवाले करने का निदेश दिया । उसने इस तथ्य को ध्यान में रखा कि पिता ने (विवाह-विच्छेद के पश्चात्) पुनर्विवाह कर लिया था, और चाहे पूर्वतम पीढ़ी के एक बड़े कुटुंब के साथ रह रहा था, सौतेली माता और कुटुंब द्वारा बालक की उपेक्षा की जाने की अधिसम्भाव्यता थी । यह नहीं कहा जा सकता था कि बालक की अभिरक्षा रखने के लिए माता अयोग्य है । इसके अतिरिक्त माता ने शपथ पर कथन किया था कि पुनर्विवाह करने का उसका कोई आशय नहीं है । इन परिस्थितियों में, माता के हाथ में अभिरक्षा देना अधिमान योग्य है ।

दिल्ली का मामला

(5) दिल्ली के एक मामले[5] में, कल्याण सिद्धांत की विचारण न्यायालय द्वारा अवहेलना की गई किन्तु अपील में उच्च न्यायालय द्वारा उसे लागू किया गया । एक लड़के की जिसकी आयु लगभग 5 वर्ष थी, माता ने बालक की अभिरक्षा के लिए हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम की धारा 6 के अधीन आवेदन किया, किन्तु विचारण न्यायालय ने उसका आवेदन खारिज कर दिया । विचारण न्यायालय द्वारा जो दृष्टि अपनाई गई वह यह थी कि इस तथ्य से कि बालक की आयु केवल 3 वर्ष है, यह अभिप्रेत नहीं है कि पिता उसको अपनी अभिरक्षा में नहीं रख सकता, बालक को स्तनपान नहीं कराया जाता था । किन्तु, अपील में, उच्च न्यायालय ने अभिरक्षा माता को अधिनिर्णीत की । कल्याण सिद्धांत की विस्तारपूर्वक चर्चा करते हुए इस तथ्य पर बल दिया कि ऐसे बालक को अधिकतम कोमल स्नेह, दुलारपूर्ण हाथ और उसकी नैसर्गिक माता के साथ की आवश्यकता है और न तो पिता और न ही उसके नारी नातेदार, चाहे वे कितने भी निकट के हों, और अप्राप्तवय के प्रति कितने ही सार्थक और स्नेहपूर्ण क्यों न हों, अप्राप्तवय की नैसर्गिक माता के उचित प्रतिस्थानी उपयुक्त रूप से नहीं हो सकते । उच्च न्यायालय ने यह कहा कि इस मामले में बालक 5 वर्ष का था और अभिरक्षा के बारे में माता को, हिन्दू अप्राप्तवयता अधिनियम द्वारा अधिमानी दावा, ठीक प्रकार से दिया गया था । विशेष

परिस्थितियों के अभाव में, जो यह दर्शित करती हों कि अप्राप्तवय का कल्याण इसी में है कि उसकी अभिरक्षा उसकी नैसर्गिक माता को न सौंपी जाए, अप्राप्तवय बालक की अभिरक्षा से उसे वंचित करना और पिता को इसे सौंप देना, न्यायालय के लिए न्यायोचित नहीं था ।

दिल्ली का एक अन्य मामला

(6) दिल्ली[6] से एक और अन्य मामला है । माता ने अपने पुत्र की जिसकी आयु 3 वर्ष थी, अभिरक्षा के लिए 1890 के अधिनियम की धारा 25 के अधीन आवेदन किया था । अंतरिम अभिरक्षा के लिए माता का आवेदन पहले विचारण न्यायालय द्वारा मंजूर किया गया, किन्तु बाद में इसने अपने आदेश का इस आधार पर पुनर्विलोकन किया कि माता के माता-पिता के पास पर्याप्त आवासीय स्थान नहीं था । उच्च न्यायालय ने अनुच्छेद 227 के अधीन अधिकारिता का प्रयोग करते हुए माता को अभिरक्षा अधिनिर्णित की । यह मात्र तथ्य कि माता की अपनी कोई आय नहीं थी उसे उसके अप्राप्तवय बालक की अभिरक्षा से वंचित करने के लिए कोई आधार नहीं था । कितनी भी मात्रा में धन, माता के प्यार और देखरेख का, जो वह अपने शिशु बालक की कर सकती थी, प्रतिस्थानी नहीं हो सकता । यदि माता की अपनी कोई स्वतंत्र आय नहीं है, तो निस्संदेह पिता को इसके भरण-पोषण के लिए कहा जा सकता है, किन्तु वह उसके बालक की अभिरक्षा से माता को वंचित करने के लिए एक शस्त्र के रूप में उपयोग नहीं कर सकता ।

गुजरात का मामला

(7) गुजरात का एक मामला उसी स्थिति का[7] एक उदाहरण प्रस्तुत करता है । पिता ने, एक अप्राप्तवय लड़की की, जिसकी आयु 6 वर्ष थी, अभिरक्षा के लिए अपनी बहन के माध्यम से आवेदन किया और आवेदन विचारण न्यायालय द्वारा मंजूर किया गया । किन्तु माता की उच्च न्यायालय में अपील मंजूर हो गई । उच्च न्यायालय ने यह दर्शाया कि जहां प्रश्न किसी अप्राप्तवय की अभिरक्षा की बाबत है वह "अधिकार" पद का बिल्कुल ही स्थान नहीं है जब तक कि कोई इस धारणा पर अग्रसर न हो कि बालक एक जंगम वस्तु या माता-पिता की एक सम्पत्ति है । जहां पद का उपयोग माता-पिता पर समाज द्वारा डाली गई बाध्यता के भाव से किया गया है । अपनी सीखने की आयु में बालक को बेहतर देखरेख, प्यार और स्नेह की आवश्यकता होती है जिसकी उपेक्षा बालक के व्यक्तित्व को बहुत मनोवैज्ञानिक नुकसान पहुंचाकर ही की जा सकती है । यदि बालक का कल्याण पिता या माता की भावनाओं या आवेगों के बलिदान की मांग करता है तो भी न्यायालय अपने गंतव्य से विचलित नहीं होगा ।

मैसूर का मामला

(8) मैसूर के एक मामले[8] में पिता ने प्रत्यास्थापन के लिए कार्यवाहियों के अनुक्रम में एक लड़की की, जिसकी आयु लगभग 3 1/2 वर्ष थी, अभिरक्षा के लिए हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 26 के अधीन आवेदन किया । विचारण न्यायालय ने आवेदन मंजूर कर दिया, किन्तु माता द्वारा अपिल पर, उच्च न्यायालय ने अभिरक्षा माता को अधिनिर्णीत कर दी । उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 26 के अधीन जहां तक उसका सम्बन्ध किसी अप्राप्तवय बालक की अभिरक्षा से है, मुख्य और सर्वोपरि विचारणीय बात (चाहे यह न्यायालय के लिए एक मात्र विचारणीय बात नहीं है) अप्राप्तवय बालक का कल्याण होनी चाहिए । यह प्रश्न माता-पिता के अधिकारों का उतना नहीं है जितना वह बालक के कल्याण का है । बालक को माता से परे ले जाने से बालक पर मानसिक दबाव पड़ेगा ।

पेशावर से एक मामला

(9) यहां पेशावर से एक मामले के प्रति निर्देश किया जाता है क्यों कि तथ्य विचित्र[9] है । माता ने एक लड़की की, जिसकी आयु लगभग 16 वर्ष थी, अभिरक्षा के लिए आवेदन किया था । उस लड़की का, ऐसा प्रतीत होता है किसी मुस्लिम ने अपहरण किया था और उसने इस्लाम स्वीकार कर लिया था । लड़की के पिता की मृत्यु हो चुकी थी । उसको ढूंढ लिए जाने के पश्चात् न्यायालय के द्वारा उसे एक सुशील मुस्लिम की अभिरक्षा में रखा गया । विचारण न्यायालय ने माता का आवेदन खारिज कर दिया, किन्तु

उच्च न्यायालय ने उसकी अपील मंजूर कर ली । अवधारण के लिए एकमात्र प्रश्न यह था कि क्या इस्लाम में उसका अभिकथित संपरिवर्तन माता को उसका संरक्षक को नियुक्त किए जाने से इंकार करने के लिए वैध कारण है । उच्च न्यायालय की राय में, अप्राप्तवय का कल्याण प्रथम विचारणीय बात है । "कल्याण" पद के अन्तर्गत भौतिक और अध्यात्मिक, दोनों कल्याण हैं । वर्तमान मामले में, अभिकथित संपरिवर्तन लड़की द्वारा गहन अध्ययन से उत्पन्न किसी धार्मिक दृढ़ विश्वास पर आधारित प्रतीत नहीं होता था बल्कि अपने भाग्य को उस व्यक्ति के जो उसका अपहरण करने के लिए उस समय दंड भोग रहा था सहारे डाल देने की उसकी इच्छा पर आधारित था । इसलिए, अपील न्यायालय की बालक की अभिरक्षा और संरक्षकता के लिए माता की प्रार्थना से इंकार करने का कोई औचित्य दिखाई नहीं दिया ।

पंजाब का मामला

(10) पंजाब के एक मामले[10] में प्रतिवाद एक अप्राप्तवय लड़के के चाचा और उसकी माता के बीच था । चाचे ने (अनुमानतः लड़के के पिता की मृत्यू के पश्चात्) अप्राप्तवय के शरीर और सम्पत्ति का संरक्षक नियुक्त करने के लिए आवेदन किया था । विचारण न्यायालय में निर्णय माता के पक्ष में था और अपील में भी उच्च न्यायालय ने उस आदेश को इस तर्क पर मान्य ठहराया कि हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 6 में यह उपबंध है कि पिता के न होने की दशा में माता ही अप्राप्तवयों की नैसर्गिक संरक्षक है । तदनुसार बालक की अभिरक्षा माता के हाथ में प्रतिधारित की गई चाहे उसने दूसरे पति से विवाह कर लिया था । उच्च न्यायालय ने बताया कि पुनर्विवाह हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम के अधीन कोई निरर्हता नहीं है ।

राजस्थान का मामला

(11) अभी हाल ही में, राजस्थान का एक मामला[11] है जिसमें भी विचारण न्यायालय ने कल्याण सिद्धांत को संकुचित रूप से लागू किया और उसके विनिश्चय को अपील में उच्च न्यायालय को ठीक करना पड़ा । पिता ने दो बालकों की, एक पुत्र जिसकी आयु लगभग 11 वर्ष थी और एक पुत्री, जिसकी आयु लगभग 14 वर्ष थी, अभिरक्षा के लिए आवेदन किया था । आवेदन को आंशिक रूप से मंजूर करते हुए, विचारण न्यायालय ने पुत्र की अभिरक्षा पिता को अधिनिर्णीत की । माता ने उच्च न्यायालय में अपील की और सफल हो गई । उच्च न्यायालय के अनुसार पिता की योग्यता पर विचार, उसका अवधारण और तौल मुख्य रूप से बालक के कल्याण को ध्यान में रखकर किया जाएगा । यदि पिता की अभिरक्षा से अप्राप्तवय के कल्याण की अभिवृद्धि माता की अभिरक्षा के बराबर या उससे बेहतर नहीं हो सकती तो वह केवल इस कारण कि अप्राप्तवय की देखभाल करने की उसकी सामर्थ्य में कोई त्रुटि नहीं, 1890 के अधिनियम की धारा 25 के अधीन अप्राप्तवय की अभिरक्षा के अजेय अधिकार का दावा नहीं कर सकती ।

इलाहाबाद का मामला

(12) **श्रीमती बिंदो बनाम श्यामलाल**, (1907) इंडियन ला रिपोर्टर, 29, इलाहाबाद 210 लगभग 10 वर्ष की आयु की एक अप्राप्तवय लड़की की अभिरक्षा के लिए विवाद अप्राप्तवय के पिता और अप्राप्तवय की मातामही के बीच था । अप्राप्तवय की माता की मृत्यू तब हो गई थी जब वह 5 वर्ष की थी और तब से अप्राप्तवय अपनी मातामही के पास रह रही थी । अप्राप्तवय की अभिरक्षा के लिए आवेदन पिता द्वारा किया गया । उस आवेदन का विरोध मातामही द्वारा मुख्य रूप से इस आधार पर किया गया कि पिता ने पुनर्विवाह कर लिया था और वह धनी नहीं था । और यह कि अप्राप्तवय अपनी मातामही के पास रहने में प्रसन्न थी और अपने पिता के पास नहीं जाना चाहती थी । जिला न्यायाधीश ने पिता के अधिकार को सर्वोपरि अभिनिर्धारित करते हुए पिता को अप्राप्तवय लड़की का संरक्षक नियुक्त करते हुए आदेश पारित कर दिया । उच्च न्यायालय ने अपील पर, जिला न्यायाधीश का आदेश अपास्त कर दिया और उच्च न्यायालय ने निदेश दिया कि अप्राप्तवय लड़की मातामही को वापस कर दी जाए । उच्च न्यायालय ने निम्न प्रकार से अभिनिर्णीत किया :—

> "ऐसा कोई विवाद नहीं है कि मातामही प्रतिपाल्य की संरक्षक बने रहने के लिए किसी भी प्रकार अयोग्य नहीं है । वह अच्छी परिस्थितियों में एक हिन्दू महिला है और यह स्पष्ट है कि यदि उसे बालक की चिंता नहीं होती तो उसने अप्राप्तवय को अपने भारसाधन में इतने समय तक न रखा होता । यह सत्य है कि पिता के विरुद्ध कुछ नहीं है किंतु यह एक स्वीकृत तथ्य है कि उसने दूसरी बार विवाह किया है और लड़की को एक सौतेली माता के नियंत्रण में जाना होगा

जिसकी बाबत संभवतः वह कुछ नहीं जानती। हम यह नहीं सोच सकते कि लड़की, इन परिस्थितियों में, उतनी प्रसन्न होगी जितनी वह मातामही के घर में है। हमने जिस बात पर विचार करना है वह यह है कि अप्राप्तवय का कल्याण, वास्तव में, किस में होगा। सभी परिस्थितियों को देखते हुए हमारा विचार है कि सौतेली माता के मुकाबले में मातामही के पास रहना अप्राप्तवय के लिए अधिक कल्याणकर होगा"।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कल्याण सिद्धांत का कई बार अधिकल्पन उचित रूप से नहीं किया गया है या विचारण न्यायालय द्वारा उसकी अनदेखी की गई है और माता को प्रचुर समय-लागत और धन-लागत पर उच्चतर न्यायालय से संसर्ग करना पड़ा था। इसलिए कल्याण सिद्धांत को लागू करने में कुछ महत्वपूर्ण बातों को स्पष्ट करने की और इस दिशा में सुसंगत उपबंधों के प्रवर्धन की आवश्यकता, स्पष्ट रूप से सिद्ध हो गई है।

अध्याय 4

विद्यमान विधि में "क्या" परिवर्तन करने अपेक्षित हैं और "क्यों"?

अप्राप्तवय के शरीर तथा सम्पत्ति की बाबत माता के वही और बराबर अधिकार होना (और पिता से निम्नतर नहीं)

4.1 विद्यमान विधि में अति गंभीर दुर्बलता हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 6(क) से प्रकट होती है। उक्त उपबंध में यह उपबंधित है कि हिन्दू अप्राप्तवय का नैसर्गिक संरक्षक अप्राप्तवय के शरीर के बारे में और उसकी सम्पत्ति के बारे में किसी लड़के या अविवाहिता लड़की की दशा में "पिता और उसके पश्चात् माता होगी"। इस प्रकार, इस आपत्तिजनक प्रतिपादना को कानूनी मान्यता प्रदान की गई है कि माता पर अधिमान देकर पिता अप्राप्तवय की अभिरक्षा का हकदार है। इस तथ्य के अतिरिक्त पिता के मुकाबले में माता को अधिमान के क्रम में निम्नतर स्थिति प्रदान करने के लिए कोई युक्तिसंगत आधार नहीं है, यह प्रतिपादना चुनौती दिए जाने के लिए कई आधारों पर भेदेय है। प्रथमतः या महिला विरोधी पक्षपात को प्रकट करता है। यह स्त्रियों के प्रति शताब्दियों पुराना अविश्वास और पुरुषों के लिए वरिष्ठता और स्त्रियों के लिए हीनता की भावना को प्रकट करती है। इसके लिए भूतकाल में कोई भी औचित्य रहा हो, यह मानते हुए कि कुछ था, इस प्राचीन पक्षपात पर दृढ़ बने रहने के लिए कम से कम भारत के संविधान के प्रवृत्त होने के पश्चात् जो स्त्रियों की समता के अधिकार की उद्घोषणा करता है और अनुच्छेद 15 में दिए गए ऊंचे सिद्धांत के अधीन लिंग के आधार पर विभेद न करने की गारंटी देता है, कोई समुचित आधार नहीं है। वास्तव में अनुच्छेद 15 के खण्ड (3) में आवश्यक विवक्षा द्वारा स्त्रियों-निमित्त और बालकों-निमित्त पक्षपात की विशेष आवश्यकताओं के अनुकूल लाभप्रद विधायन का पूर्व-दृश्य दिया गया है। यह एक अनोखी बात है कि उक्त संवैधानिक उपबंध के होते हुए भी स्त्रियों के विरुद्ध विभेद लगभग चार दशकों के लिए सहन किया जाता रहा है। जैसी कि विधि इस समय है, यदि पिता और माता दोनों बालक की अभिरक्षा अपने हाथ में रखने के लिए समान रूप से योग्य व्यक्ति हैं, तो पिता, माता पर अधिमान देकर बालक की अभिरक्षा प्राप्त करेगा, जब तक कि बालक दुखदायी और असुविधापूर्ण 5 वर्ष से न्यून की आयु का नहीं है। यह महसूस करना रुचिकर बात है कि ब्रिटिश संसद् भारत के संविधान के प्रवृत्त होने के 25 वर्ष पूर्व इस समस्या के प्रति सजग हुई, और उसके प्रति अन्याय का उन्मूलन करने के लिए 1925 का संरक्षक और शिशु अधिनियम अधिनियमित किया। उद्देशिका का पठन इस प्रकार है :—

> "संसद् ने स्त्री और पुरुष के बीच 1919 के लिंग निरर्हता (उत्सादन) अधिनियम और कई अन्य अधिनियमितियों से समता स्थापित करनी चाही है और यह समीचीन है कि यह सिद्धांत शिशुओं की संरक्षता और उसके द्वारा प्रदत्त अधिकारों और जिम्मेदारियों की बाबत प्रवृत्त रहे"। यह अधिनियमित हों।

उक्त अधिनियमिति की धारा 1 में यह उपबंध है कि न्यायालय कामना की दृष्टि से अभिरक्षा के लिए पिता के वरिष्ठ अधिकार के सम्बन्ध में सिद्धांतों को ध्यान में रखे बिना शिशुओं की अभिरक्षा के सम्बन्ध में प्रश्नों का विनिश्चय करेगा। और शिशु की अभिरक्षा के लिए न्यायालय से समावेदन करने के लिए पिता की तरह माता को धारा 2 के अधीन वैसी ही शक्ति दी गई है माता की प्रास्थिति में, ब्रिटिश विधि के अधीन समय-समय पर सुधार किया जाता रहा है और अंततः 1973 में, बालकों की अभिरक्षा, पालन-पोषण और सम्पत्ति के प्रशासन के सम्बन्ध में माता और पिता को बराबर अधिकार दिए गए। 1973 के संरक्षकता अधिनियम की, जो अप्राप्तवयों की संरक्षकता के बारे में इंग्लैंड और वेल्स की विधि का संशोधन करने के लिए अधिनियमित किया गया था, जिससे कि किसी

माता के अधिकार किसी पिता के अधिकारों के बराबर किए जा सकें, धारा 1 में निम्न प्रकार का उपबंध है :—

"किसी अप्राप्तवय की अभिरक्षा और पालन-पोषण के सम्बन्ध में और किसी अप्राप्तवय की और उसके लिए न्यास में धारित सम्पत्ति या किसी ऐसी सम्पत्ति की आय के उपयोजन के सम्बन्ध में किसी माता के वही अधिकार और प्राधिकार होंगे जो विधि पिता को अनुज्ञात करती है, और माता तथा पिता के अधिकार और प्राधिकार बराबर होंगे और वे दूसरे के बिना किसी एक के द्वारा प्रयोक्तव्य होंगे ।

(इस पर बल दिया गया है)

4.2 किसी बालक की अभिरक्षा के सम्बन्ध में, विशेषकर बाद के प्रक्रमों में, युनाइटेड किंग्डम में विधि का इतिहास दो महत्वपूर्ण रुख दर्शित करता है पहला, विवाहिक स्थिति के अस्तित्व में रहते हुए जन्मे किसी बालक की माता और पिता की पैतृक प्राग्स्थिति का धीरे-धीरे समकरण करता है दूसरे में, माता और पिता दोनों के पैतृक अधिकार कम महत्वपूर्ण हो गए हैं क्योंकि बालक की अभिरक्षा और पालन-पोषण तथा उसकी सम्पत्ति के प्रशासन के सम्बन्ध में किसी हेतुक पर बाद में बालक का कल्याण प्रथम और सर्वोपरि कारण है ।

4.3. इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम की धारा 6(क) में दिया गया उपबंध अत्यन्त अनुचित और अन्यायपूर्ण है और बदलते समय के साथ असुसंगत और अप्रचलित हो गया है, । इसलिए, सम्बद्ध उपबंध का संशोधन करने की आवश्यकता है जिससे कि माता और पिता दोनों का "संयुक्ततः और पृथक्तः नैसर्गिक संरक्षक होना गठित किया जा सके । और किसी अप्राप्तवय और उसकी सम्पत्ति की बाबत उनके अधिकार बराबर हों । माता के मुकाबले में पिता को अधिमानी बर्ताव प्रदान करने वाले उपबंधों को हटाना होगा और उनके स्थान पर, इसमें इसके पूर्व वर्णित बातों के अनुसार, माता को समान बर्ताव, प्रदान करने वाला उपबंध प्रतिस्थापित करना होगा ।

जिस अप्राप्तवय बालक ने 12 वर्ष की आयु पूरी न कर ली हो, उसकी अभिरक्षा मामूली तौर पर माता के हाथ में होगी

4.4. हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम की धारा 6 (क) के परंतुक के अनुसार "जिस अप्राप्तवय ने पांच वर्ष की आयु पूरी न कर ली है उसकी अभिरक्षा मामूली तौर पर माता के हाथ में होगी ।" किस आयु तक अप्राप्तवय की अभिरक्षा मामूली तौर पर माता के हाथ में रहनी चाहिए, यह एक प्रश्न था जिसकी विधि आयोग द्वारा अप्रैल, 1980 में प्रस्तुत की गई 83वीं रिपोर्ट में जांच की गई । मामले की बारीकी और सावधानीपूर्वक जांच करने के पश्चात् भारत के विधि आयोग ने यह सिफारिश की कि संबद्ध उपबंध का संशोधन करना चाहिए जिससे आयु, जिस तक अभिरक्षा माता के हाथ में रहनी चाहिए, 5 वर्ष से बढ़ाकर 12 वर्ष कर दी जाए । ऐसा प्रतीत होता है कि किसी एक या अन्य कारणवश यह सिफारिश स्वीकार नहीं की गई और उसे कार्यरूप नहीं दिया गया । हमारी यह राय है कि भारत के विधि आयोग द्वारा उसकी 83वीं रिपोर्ट में की गई सिफारिश का कार्यान्वयन अविलंब किया जाए । इसलिए हम उस सिफारिश को दोहराते हैं । सिफारिश को दोहराने के लिए हम अपने अतिरिक्त कारण नहीं देना चाहते क्योंकि हम महसूस करते हैं कि 83वीं रिपोर्ट में व्यक्त किए गए कारणों को बेहतर रूप नहीं दिया जा सका । इसलिए हम उस रिपोर्ट का पैरा 6.50, 6.51 और 6.53 उद्धरित करके संतोष करते हैं ।

"1956 के अधिनियम की धारा 6 का संशोधन करने के लिए सिफारिश ।

6.50 चौथा प्रश्न लेते हुए हमारी यह राय है कि हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 6 का भी संशोधन किया जाना चाहिए जिससे कि अप्राप्तवय की अभिरक्षा उसके 12 वर्ष की आयु पूरा होने तक मामूली तौर पर माता को अनुज्ञात की जा सके । इस राय के लिए हम अपने कारण संक्षेप में कथित करते हैं । बारह वर्ष की आयु तक की अवधि किसी बालक की सीखने की अवधि होती है । उन्हें सीखने के वर्षों में किसी बालक में धैर्य, मर्यादा, ईमानदारी, सहायता करने के लिए उत्साह और दूसरों के प्रति आदर जैसे सद्गुण विकसित होते हैं । शिक्षा, जो बालक इन वर्षों में प्राप्त करता है उसके उच्च बुद्धिमानी और नैतिक स्तर का स्वस्थ व्यक्ति बनाने के लिए

परिकल्पित होनी चाहिए जो उसे राज्य और समाज के विकास में सक्रिय भूमिका निभाने में समर्थ है । इस बात पर विवाद नहीं हो सकता कि यह माता का ही असर है जिससे कि किसी बालक का शील और गुण ढलते हैं । पुरुष वही बनते हैं जो उनकी माताएं उन्हें बनाती हैं, पिता की अधिकतम प्रीति भी बालक के हृदय पर प्रभाव और उसके जीवन को अच्छा रूप नहीं दे सकती । यह नेपोलियन था जिसने कहा था "बालक का भावी भाग्य सदैव माता का कार्य है" ।

अभिरक्षा के बारे में संशोधन की आवश्यकता

6.51 1956 के अधिनियम में अभिरक्षा के सम्बन्ध में उपबंध का विधायी इतिहास रोचक है । चाहे नैसर्गिक संरक्षक के रूप में माता की स्थिति पिता के पश्चात् की है, फिर भी जैसा पहले कथन किया है कि अधिनियम में अधिकथित है कि पांच वर्ष तक के अप्राप्तवय की अभिरक्षा मामूली तौर पर माता के हाथ में होगी । मूल विधेयक में प्रस्थापित आयु तीन वर्ष थी, किन्तु प्रवर समिति ने इसे बढ़ाकर पांच वर्ष कर दिया । इस वृद्धि से भी सभी व्यक्ति संतुष्ट नहीं हुए । संसद् के कुछ सदस्यों ने महसूस किया कि इस आयु को और बढ़ाना चाहिए । प्रवर समिति की एक महिला सदस्या चाहती थी कि अप्राप्तवय की अभिरक्षा माता के हाथ में तब तक होनी चाहिए जब तक कि वह वयस प्राप्त नहीं कर लेता । एक अन्य महिला सदस्य इसे बढ़ाकर बारह वर्ष तक करना चाहती थी । अन्य दो पुरुष सदस्य इसे बढ़ाकर क्रमशः दस वर्ष और तेरह वर्ष करना चाहते थे । इसलिए हमारा प्रस्ताव कि अभिरक्षा की आयु को बढ़ाकर बारह वर्ष करना चाहिए, नया नहीं है ।

कोमल वयस के बालक के लिए माता की देखरेख की आवश्यकता

6.53 बारह वर्ष को आयु से कम आयु के बालक को कोमल स्नेह, दुलारपूर्ण हाथ और अपनी माता के साथ की आवश्यकता होती है और न तो पिता और न ही उसके कुटुम्ब के नातेदार, चाहे वे अप्राप्तवय के कितने ही निकट, सार्थक और स्नेहपूर्ण क्यों न हों, अप्राप्तवय की नैसर्गिक माता के उचित प्रतिस्थानी उपयुक्त रूप से नहीं हो सकते । इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि केवल भौतिक आवश्यकताएं और सुविधाएं किसी बालक के उचित और स्वस्थ विकास के लिए पर्याप्त नहीं है । इस प्रयोजन के लिए पैतृक स्नेह और अपरिहार्य है और माता-पिता में विवाद की दशा में जब बालक की आयु बारह वर्ष से कम की है तो बालक की अभिरक्षा की बाबत माता का अधिमानी दावा होना चाहिए । इन्हीं कारणों से उस आयु की बाबत जिस तक अभिरक्षा मामूली तौर पर माता के हाथ में होनी चाहिए । हमने 1956 के अधिनियम के संशोधन की सिफारिश की है ।

हम उपर उत्कथित लेखांशों में प्रतिबिंबित तर्क से संपूर्ण रूप से सहमत हैं और तदनुसार उसी सिफारिश को दोहराते हैं कि हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम की धारा 6 की उपधारा (क) का संशोधन यह उपबंध करने के लिए किया जाए कि जिस अप्राप्तवय ने 12 वर्ष की आयु पूरी नहीं कर ली है उसकी अभिरक्षा मामूली तौर पर माता के हाथ में होगी ।

कल्याण सिद्धान्त का प्रवर्धन

4.5. अध्याय 3 में, कल्याण सिद्धांत को लागू करने में और इस सम्बन्ध में सुसंगत उपबंधों के प्रवर्धन के लिए कुछ महत्वपूर्ण बातों को स्पष्ट करने की आवश्यकता पर्याप्त रूप से दर्शित कर दी गई है । इस सन्दर्भ में, इस सिद्धांत को लागू करते समय सम्बद्ध न्यायालय द्वारा गणना में ली जाने के लिए चार बातों को सम्मिलित करके हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम की धारा 13 और संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम की धारा 17 में दिए गए कल्याण सिद्धांत का प्रवर्धन करने की आवश्यकता है ।

4.5.1. कोई अप्राप्तवय अपनी सौतेली माता के साथ रहने के लिए मामूली तौर पर बाध्य न होगा :—जहां किसी अप्राप्तवय के पिता ने विवाह-विच्छेद अभिप्राप्त कर लिया है और पुनर्विवाह कर लिया है यह वांछनीय है कि अप्राप्तवय की अभिरक्षा, उसकी आयु को ध्यान में लिए बिना, मामूली तौर पर माता के हाथ में होगी । यदि बालक की अभिरक्षा पिता को अधिनिर्णीत कर दी जाती है तो बालक सौतेली माता के साथ रहने के लिए बाध्य होगा । प्रथमतः बालक को अपनी नैसर्गिक माता से पृथक् रहने का घाव सहना होगा । द्वितीयतः बालक को अपनी सौतेली माता के साथ रहने के लिए मनोवैज्ञानिक समायोजन करने होंगे । जबकि उस बर्ताव की बाबत, जो एक सौतेली

माता सौतेले बालक के साथ कर सकती है, संदेह करना कुछ अनुचित है, यह महसूस करना पड़ता है कि सौतेली माताएं सौतेले बालकों के साथ सुजनता, दयाभाव और विचारपूर्वक बर्ताव करने में समर्थ हो सकती हैं। किन्तु कई अन्य माताएं ऐसा करने के योग्य न हों। वस्तुतः वह बर्ताव जो एक बालक नैसर्गिक माता से अधिक अभ्यापत्ति के बिना स्वीकार कर ले, सौतेली माता से स्वीकार करने के लिए तैयार न हो। किसी अप्राप्तवय को सौतेली माता के साथ रहने के लिए बाध्य करना बालक को एक घावपूर्ण अनुभव भोगने के लिए बाध्य करना है और उसे सताए जाने की भावना को भोगने के लिए बाध्य करना है। इसलिए यह उपबंध करना आवश्यक है कि किसी अप्राप्तवय बालक की अभिरक्षा मामूली तौर पर नैसर्गिक माता के हाथ में सौंपी जानी चाहिए और जब पिता ने पुनर्विवाह कर लिया है तो बालक को अपनी सौतेली माता के साथ रहने के लिए बाध्य नहीं करना चाहिए।

4.5.2.1. **किसी अप्राप्तवय नारी बालक को अपने सौतेले पिता के साथ रहने के लिए मामूली तौर पर बाध्य नहीं किया जाएगा :**— जहां माता ने पुनर्विवाह कर लिया है वहां किसी अप्राप्तवय नारी बालक की अभिरक्षा माता के हाथ सौंप देने का परिणाम उस अप्राप्तवय को अपने सौतेले पिता के साथ रहने के लिए बाध्य करना होगा जबकि उसे माता का नैसर्गिक प्यार और स्नेह मिलेगा उसे नुकसानदायक परिणामों की सम्भावना का भी सामना करना होगा। सौतेले पिता से बालक के प्रति वास्तविक स्नेह और भावमय अनुराग की मामूली तौर पर प्रत्याशा नहीं की जा सकती। अनेकानेक बार यह संभाव्यता होती है कि सौतेला पिता बालक को आवश्यक बुराई या न्यूसेंस समझता है जो बालक की नैसर्गिक माता से, जिसने उस बालक को अपने पूर्व पति से गर्भाहित किया था, विवाह के कारण पैदा हुआ है। पश्चिमी देशों से आने वाली रिपोर्टें जिनमें सौतेले पिता द्वारा बालक के प्रति क्रूरता का दोष करने की घटनाएं लेखबद्ध की गई हैं इतनी अधिक हैं और उनकी पुनरावृत्ति भी इतनी अधिक है कि उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। बालक को शारीरिक दंड देने के अतिरिक्त कई बार बालक से लैंगिक दुराचार भी किया जाता है। असहाय माता कई बार बालक के प्रति ऐसे बर्ताव के प्रति मूक साक्षी बनी रहती है। जो कुछ पश्चिमी देशों में बड़े पैमाने पर हो रहा है उसके भारत में होने की सम्भाव्यता है यदि वह पहले ही नहीं हो रहा है। इन परिस्थितियों में, इस प्रभाव का उपबंध करना वांछनीय है कि किसी नारी अप्राप्तवय बालक को उसके सौतेले पिता के साथ रहने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा। न्यायालय यह विचार कर सकेगा कि क्या ऐसे मामलों में नारी अप्राप्तवय बालक की अभिरक्षा पितामह-पितामही या मातामह-मातामही को सौंपी जाए। इसलिए तदनुसार उपबंध करना आवश्यक है।

4.5.2.2. **जहां केवल माता ने पुनर्विवाह किया है :**—ऐसी दशा में, यह उपबंध करना वांछनीय होगा कि अप्राप्तवय, यदि वह नर बालक है, उसे "सौतेले पिता" के साथ रहने के लिए "मामूली तौर पर" बाध्य नहीं करना चाहिए। क्योंकि कई घटनाएं सामने आई हैं जहां सौतेला पिता बालक के साथ दुर्व्यवहार करता है या उसे संदेश लाने-ले जाने वाला छोकरा समझता है।

4.5.2.3. **जहां "पिता" और "माता" दोनों ने पुनर्विवाह कर लिया है**—न्यायालय यह अवधारित करेगा कि पिता और माता में से या पितामह-पितामही या मातामह-मातामही में से कौन अप्राप्तवय की अभिरक्षा अपने हाथ में रखेगा, यह विशेष मामले की सभी सुसंगत परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उस अप्राप्तवय के अधिकतम कल्याण में क्या सहायक समझा जाता है, न्यायालय के विनिश्चय पर निर्भर करेगा।

4.5.3. **मुख्य रूप से आर्थिक कारणों से किसी माता को, अप्राप्तवय की अभिरक्षा अपने हाथ में रखने से, वंचित न किया जाए :**—निस्संदेह यह सत्य है कि नगर क्षेत्रों में, मध्यम श्रेणी के भारतीय घरों में अधिकतर कामकाजी स्त्रियां हैं। किन्तु बहुत से घरों में, स्त्री गृहिणी की भूमिका निभाती है और अधिकतर गैर-नगरीय क्षेत्रों में ऐसा है। यह तथ्य है कि कुल मिलाकर पति इस भाव से आर्थिक रूप से बेहतर स्थिति में है कि वह ऐसे पद पर नियुक्त है जहां उसका पारिश्रमिक पत्नी की आय से, उन मामलों में भी, जहां पत्नी एक कामकाजी स्त्री है, बहुत अधिक है। पति पत्नी के मुकाबले में मामूली तौर पर अधिक समृद्ध परिस्थितियों में होता है। कल्याण सिद्धांत को लागू करने में मात्र इस तथ्य को कि माता के मुकाबले में पिता अधिक समृद्ध परिस्थितियों में है, अन्य परिस्थितियों में योग से अधिक होने की अनुज्ञा नहीं दी जा सकती। इसके अतिरिक्त न्यायालय बालकों को भरण-पोषण का संदाय करने के लिए पति को सदैव निदेश दे सकता है इसलिए पिता के वरिष्ठआर्थिक परिस्थितियों सम्बन्धी कारण को अनुचित अधिमान नहीं देना चाहिए। इसलिए इस निमित्त उपबंध करना अपेक्षित है जिससे अप्राप्त वय के कल्याण पर सर्वोपरि ध्यान, पिता की वरिष्ठ आर्थिक परिस्थितियों के कारण माता के दावे का उपाय करके बिगड़कर पिता के दावे के पक्ष में नहीं हो जाता है।

4.5.4. **अप्राप्तवय के लिए माता की भावमयी संभाल और वात्सल्य की आवश्यकता पर मुख्य ध्यान देना चाहिए:**—माता कोई प्रयास किए बिना अप्राप्तवय बालक को प्यार और स्नेह प्रदान करने के लिए प्रकृत्या सम्पन्न है। बालक का गर्भधारण करने के समय से ही माता और बालक के बीच शारीरिक बंधन होता है। बालक अपने जन्म तक माता के मांस और रक्त पर रहता है। उसके जन्म के पश्चात्, बालक को माता आश्रय देती है जो उसको खिलाती-पिलाती और उसका पालन करती है। जब बालक किसी शारीरिक पीड़ा या संताप में होता है तो मामूली तौर पर यह माता ही होती है जो उसकी देखरेख करती है और उसे सांत्वना देती है। ऐसी भावमयी सम्भाल और वात्सल्य प्रदान करने के लिए जो बालक के संतुलित व्यक्तित्वका निर्माण करने के लिए आवश्यक है माता मामूली तौर पर पिता से बेहतर उपयुक्त होती है। पिता मामूली तौर पर अपनी वृत्ति या नियोजन या अपने आर्थिक कामकाज में लगा रहता है। पिता के पास बालक के लिए समय मुश्किल से ही होता है या वह बालक के साथ भावमयी सम्बन्ध का निर्माण मुश्किल से ही कर पाता है जिसका निर्माण माता कर सकती है भले ही वह कामकाजी स्त्री हो। बालक को उज्जवल और संतुलित व्यक्तित्व का विकास करने के लिए समर्थ बनाने के लिए यह आवश्यक है कि बालक को उस भावमय संभाल और वात्सल्य से संचित न होना पड़े जो उसकी अभिवृद्धि के लिए आवश्यक है। इन परिस्थितियों में, बालक की अभिरक्षा की बाबत प्रश्नों का समाधान करने में इस बात की ओर मुख्य ध्यान देने की आवश्यकता है और कल्याण सिद्धांत के संघटकों को स्पष्ट करते समय इस निमित्त उपबंध करने की आवश्यकता है।

4.6. **पितामह-पितामही, मातामह-मातामही के दावे पर विचार करने में, कि वे पितामह-मातामही हों या मातामह-मातामही हो यह बात महत्वपूर्ण नहीं है:**—न्यायालयों को कई बार इस प्रश्न का सामना करना पड़ता है कि क्या पितामह-पितामही को अप्राप्तवय के शरीर या सम्पत्ति का संरक्षक नियुक्त किया जाए या मातामह-मातामही को उस रूप में नियुक्त किया जाए। जैसे पिता और माता के बीच दावे पर विचार करने में माता के मुकाबले में पिता से अधिमानी बर्ताव किया जाता है उसी प्रकार उस प्रश्न पर विचार करने में पुरुष उन्मुख पक्षपात पितामह-पितामही, मातामह-मातामही के संदर्भ में भी कई बार स्पष्ट रूप से किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक मनोवैज्ञानिक भावना है कि पितामह-पितामही को मातामह-मातामही पर अधिमान देना चाहिए। विरोधी दावों पर विचार करने में, कल्याण सिद्धांत को लागू करते समय "पितामह-पितामही" को कई बार "मातामह-मातामही" पर वरीयता दी जाती है और उन्हें कई बार "मातामह-मातामही" पर अधिमान दिया जाता है। ऐसा करने में कोई युक्ति संगत आधार नहीं है। इसलिए यह स्पष्ट करना वांछनीय है कि "पितामह-पितामही" और "मातामह-मातामही" को समान माना जाए जिनका संरक्षकों के रूप में नियुक्त किए जाने का दावा, अप्राप्तवय के कल्याण की बाबत अध्यारोही बात के अधीन रहते हुए, बराबर होगा।

4.7. संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 की धारा 19(ख) में भी पुरुष उन्मुख पक्षपात और नारी-विरोधी पक्षपात दिखाया गया है। इसमें यह उपबंध है :—

"19. **कतिपय दशाओं में न्यायालय द्वारा संरक्षक नियुक्त न किया जाना**— इस अध्याय की कोई भी बात न्यायालय को प्राधिकृत न करेगी वह कि ऐसे अप्राप्तवय की जिसकी

सम्पत्ति प्रतिपालय अधिकरण के अधीक्षण के अधीन है सम्पत्ति का संरक्षक नियुक्त या घोषित करे अथवा —

(क) * * * * * * अथवा

(ख) इस अप्राप्तवय के जिसका पिता जीवित है और न्यायालय की राय में अप्राप्तवय के शरीर का संरक्षक होने के योग्य नहीं है अथवा

(ग) * * * * * *

शरीर का संरक्षक नियुक्त या घोषित करे" ।

विधान-मंडल ने अपनी बुद्धिमता से यह उपबंध किया है कि जब तक किसी अप्राप्तवय का पिता जीवित है और न्यायालय की राय में, उस अप्राप्तवय के शरीर का संरक्षक होने के लिए अयोग्य नहीं है न्यायालय किसी अन्य को उस अप्राप्तवय के संरक्षक के रूप में नियुक्त या घोषित नहीं करेगा किन्तु कोई कारण नहीं है कि वही सिद्धांत तब लागू न हो जब किसी अप्राप्तवय की माता जीवित है और न्यायालय की राय में, उस अप्राप्तवय के शरीर को संरक्षक होने के लिए अयोग्य नहीं है । यदि जब किसी अप्राप्तवय का पिता अयोग्य नहीं है तब किसी अन्य को उस अप्राप्तवय का संरक्षक नियुक्त नहीं किया जा सकता तो किसी अन्य को उस अप्राप्तवय का संरक्षक क्यों नियुक्त किया जाए जब माता जीवित है और न्यायालय की राय में अयोग्य नहीं है । अप्राप्तवय के हित की रक्षा माता द्वारा उतनी ही शक्ति और निष्ठा से की जा सकती है जितनी पिता द्वारा की जा सकती है । इसलिए यह तर्कपूर्ण बात है कि जब तक किसी अप्राप्तवय का "पिता या माता" जीवित है और न्यायालय की राय में अप्राप्तवय के शरीर का संरक्षक होने के लिए अयोग्य नहीं है, न्यायालय किसी अन्य को अप्राप्तवय के शरीर का संरक्षक नियुक्त नहीं करेगा । इसलिए धारा 19(ख) का तदनुसार संशोधन करना अपेक्षित है । संरक्षक के प्राधिकार के समाप्त हो जाने के बारे में संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम की धारा 41 (ङ) में पारिणामिक संशोधन करना भी अपेक्षित होगा । उक्त उपबंध में जहां कहीं "पिता" शब्द है उनके स्थान पर "पिता या माता" शब्द रखे जाएंगे ।

4.8. दत्तक पुत्र और दत्तक पुत्री का नैसर्गिक संरक्षक:—हिन्दू अप्राप्तवय और संरक्षकता अधिनियम, 1956 में ऐसे दत्तक पुत्र की जो अप्राप्तवय है, नैसर्गिक संरक्षकता के लिए एक उपबंध किया गया है । उक्त अधिनियम के पश्चात हिन्दू दत्तक और भरणपोषण अधिनियम, 1956 ने किसी पुत्री का दत्तक ग्रहण पहली बार समर्थ किया । तब तक कोई हिन्दू केवल पुत्र को ही दत्तक ले सकता था और पुत्री को नहीं । हिन्दू दत्तक और भरणपोषण अधिनियम, 1956 से हुए परिवर्तन को दृष्टि में रखते हुए दत्तक पुत्र और दत्तक पुत्री दोनों की नैसर्गिक संरक्षकता के लिए उपबंध करना आवश्यक हो गया है । हिन्दू अप्राप्तवय और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 7 में जैसी वह इस समय है, यह उपबंध है :—

> "**दत्तक पुत्र की नैसर्गिक संरक्षकता**—ऐसे दत्तक पुत्र की, जो अप्राप्तवय है, नैसर्गिक संरक्षकता दत्तक ग्रहण पर दत्तक पिता को और उसके पश्चात् दत्तक माता को संक्रांत हो जाती है ।"

(बल जोड़ा गया है)

इसलिए धारा 7 में जिस रूप में उसका वर्तमान पठन है, एक कमी है । दत्तक बालक की नैसर्गिक संरक्षकता की बाबत धारा 7 के सिद्धांत को लागू करने के लिए उस उपबंध का संशोधन करना उपयुक्त होगा जिससे कि ऐसे "दत्तक पुत्र" और ऐसी "दत्तक पुत्री" को भी, जो अप्राप्तवय है, लागू किया जा सके । पिता और माता से समान बर्ताव करने के लिए इस धारा को पहली सिफारिश के अनुकूल करना भी आवश्यक है । "दत्तक पिता को और उसके पश्चात् दत्तक माता को" पद के स्थान पर "दत्तक पिता और दत्तक माता को संयुक्ततः और पृथक्तः" का उपबंध करना ठीक होगा ।

4.9. इस चर्चा के प्रकाश में हम अगले अध्याय में सिफारिशें करने के लिए अग्रसर होते हैं ।

अध्याय 5

सिफारिशें

पहली सिफारिश

"पिता के मुकाबले में माता के वही और बराबर (और निम्नतर नहीं) अधिकार होने चाहिएं ।"

5.1. हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 6(क) में दिए गए उपबंध का, जिसमें माता पर "अधिमान" देकर पिता को हिन्दू अप्राप्तवय के शरीर तथा सम्पत्ति की बाबत भी नैसर्गिक संरक्षक गठित किया गया है, पिता और माता दोनों को "संयुक्ततः और पृथक्तः" नैसर्गिक संरक्षक जिनके अप्राप्तवय की बाबत अधिकार बराबर होंगे, गठित करने के लिए संशोधन करना चाहिए । क्योंकि माता के मुकाबले में पिता को वरिष्ठ और अधिमानी बर्ताव देने के लिए कोई औचित्य नहीं है, इस लिए यह भारत के संविधान के अनुच्छेद 15 के भाव और अंतश्चेतना की उल्लंघन करता है ।

(पैरा 4.1 देखिए)

दूसरी सिफारिश

ऐसे अप्राप्तवय की, जिसने 12 वर्ष की आयु पूरी नहीं की है, अभिरक्षा मामूली तौर पर माता के हाथ में होगी ।

5.2. हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम की धारा 6 की उपधारा (क) के परंतुक का संशोधन करने की आवश्यकता है जिसमें कि उस लड़के या उस अविवाहिता लड़की की, जिसने 12 वर्ष की आयु (5 वर्ष की सीमा के बजाय जैसी इस समय विहित है) पूरी नहीं की है, अभिरक्षा मामूली तौर पर माता के हाथ में होगी ।

(पैरा 4.4 देखिए)

तीसरी सिफारिश

कल्याण सिद्धांत को लागू करने में कुछ महत्वपूर्ण बातों को स्पष्ट करना ।

5.3. हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम की धारा 13 और संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम की धारा 17 में दिए गए कल्याण सिद्धांत का प्रवर्धन और उसे स्पष्ट करने की आवश्यकता है जिससे यह स्पष्ट हो जाए कि —

(1) जहां "पिता" ने पुनर्विवाह कर लिया है, अप्राप्तवय की आयु का ध्यान किए बिना, अप्राप्तवय की अभिरक्षा मामूली तौर पर माता के हाथ में होगी । अप्राप्तवय को अपनी सौतेली माता के साथ रहने के लिए तब तक बाध्य नहीं किया जाना चाहिए जब तक कि असाधारण परिस्थितियां न हों, जिन्हें लेखबद्ध किया जाएगा ।

(पैरा 4.5.1 देखिए)

(2) (क) जहां "माता" ने पुनर्विवाह कर लिया है वहां संभावी लैंगिक दुर्व्यवहार से रक्षा करने के लिए किसी नारी बालक को अपने सौतेले पिता के साथ रहने के लिए बाध्य नहीं किया जाना चाहिए । न्यायालय यह विचार कर सकेगा कि क्या नारी बालक की अभिरक्षा पितामह-पितामही या मातामह-मातामही को सौंपी जानी चाहिए ।

(पैरा 4.5.2.1 देखिए)

(ख) जहां माता ने पुनर्विवाह कर लिया है और पिता ने नहीं किया है वहां अप्राप्तवय की मामूली तौर पर, भले ही वे नर बालक हों, सौतेले पिता के साथ रहने के लिए बाध्य नहीं किया जाना चाहिए ।

(पैरा 4.5.2.2 देखिए)

(ग) जहां "पिता" और "माता" दोनों ने पुनर्विवाह कर लिया है, वहां न्यायालय यह अवधारित करेगा कि प्रत्येक मामले के तथ्यों के प्रकाश में अप्राप्तवय के अधिकतम कल्याण के लिए न्यायालय जिस बात को सहायक समझता है, उस पर आश्रित रहते हुए क्या संरक्षकता और/या अभिरक्षा पिता को, माता को या पितामह-पितामही, मातामह-मातामही को सौंपी जाए ।

(पैरा 4.5.2.3 देखिए)

(3) माता को मात्र इस आधार पर अप्राप्तवय की अभिरक्षा से वंचित नहीं किया जाएगा कि पिता अधिक समृद्ध परिस्थितियों में है या माता की आर्थिक परिस्थितियां पिता जितनी अच्छी नहीं हैं ।

(पैरा 4.5.3 देखिए)

(4) कल्याण सिद्धांत को लागू करने में, न्यायालय इस तथ्य का सम्यक् ध्यान रखेगा कि अप्राप्तवय को "माता" की भावमयी सम्भाल और वात्सल्य की आवश्यकता है, जो ऐसी सम्भाल और वात्सल्य से बेहतर युक्त है, जो संतुलित व्यक्तित्व के निर्माण के लिए अनिवार्य है ।

(पैरा 4.5.4 देखिए)

चौथी सिफारिश

किसी अप्राप्तवय के संरक्षक नियुक्त किए जाने के मामले में पितामह-पितामही, मातामह-मातामही के अधिकार इस बात का ध्यान किए बिना कि वे पितामह-पितामही हैं या मातामह-मातामही हैं, बराबर होंगे ।

5.4. किसी अप्राप्तवय के शरीर और सम्पत्ति का संरक्षक नियुक्त करने और किसी अप्राप्तवय की अभिरक्षा सौंपने के प्रश्न पर विचार करने में इस परिस्थिति की, कि पितामह-पितामही, मातामह-मातामही पितृ पक्ष या मातृ पक्ष से हैं, अवहेलना करनी चाहिए । एक ओर पितामह-पितामही, और दूसरी ओर मातामह-मातामही समान माने जाएंगे जिनका अप्राप्तवय के कल्याण के सम्बन्ध में सर्वोपरि ध्यान देने के अधीन रहते हुए इस निमित्त नियुक्त किए जाने का दावा "बराबर" होगा ।

(पैरा 4.6 देखिए)

पांचवी सिफारिश

यह मानते हुए कि किसी अप्राप्तवय का संरक्षक नियुक्त होने के लिए अन्यों का अपवर्जन करके न केवल "पिता" बल्कि "माता" का भी दावा है जब तक न्यायालय द्वारा अयोग्य न पाई जाए ।

5.5. संरक्षक और प्रतिपाल्य अधिनियम, 1890 की धारा 19(ख) का, जिसमें अन्य बातों के साथ यह उपबंध है कि न्यायालय को, ऐसे अप्राप्तवय के, जिसका "पिता" जीवित है और न्यायालय की राय में अप्राप्तवय के शरीर का संरक्षक होने के अयोग्य नहीं है, शरीर का संरक्षक नियुक्त करने के लिए प्राधिकृत नहीं किया जाएगा, "पिता" के साथ "माता" के प्रति निदेश सम्मिलित करके माता के साथ बराबर बर्ताव करने के लिए, संशोधन करने की आवश्यकता है, यह उपबंध किया जाना चाहिए कि न्यायालय को ऐसे अप्राप्तवय के, जिसका "पिता या माता" जीवित है और न्यायालय की राय में अप्राप्तवय के शरीर का संरक्षक होने के अयोग्य नहीं है, शरीर का संरक्षक नियुक्त करने के लिए प्राधिकृत नहीं किया जाएगा, क्योंकि इस उपबंध के संदर्भ में एक ओर अप्राप्तवय के "पिता" और

दूसरी ओर अप्राप्तवय की "माता" के बीच विभेद करने के लिए कोई युक्तिसंगत आधार नहीं है । धारा 41(ङ) में "पिता" शब्द, जहां कहीं आता है, उसके स्थान पर "पिता या माता" शब्द प्रतिस्थापित करके, उसका परिणामिक संशोधन करने की आवश्यकता है ।

(पैरा 4.7 देखिए)

छठी सिफारिश

दत्तक पुत्र की संरक्षकता के सम्बन्ध में हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम की धारा 7 का संशोधन किया जाना ।

5.6. हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 की धारा 7 जैसी वह इस समय है, दत्तक पुत्र की नैसर्गिक संरक्षकता के संदर्भ में लागू है । हिन्दू दत्तक और भरण-पोषण अधिनियम के अधिनियमन की दृष्टि से, जो अब पुत्री को भी दत्तक लेने के लिए समर्थ बनाता है, उपरोक्त उपबंध का पुनः प्रारूपण करना अपेक्षित है जिससे कि उसे, ऐसी दत्तक पुत्री की, जो अप्राप्तवय है, संरक्षकता को भी लागू किया जा सके । इसी प्रकार स्त्रियों के विरुद्ध विभेद को हटाने के लिए "दत्तक पिता को और उसके पश्चात् दत्तक माता को" वाक्यांश के स्थान पर "दत्तक पिता और दत्तक माता को संयुक्ततः और पृथक्तः" वाक्यांश प्रतिस्थापित करने की आवश्यकता है ।

(पैरा 4.8 देखिए)

5.7 हम तदनुसार सिफारिश करते हैं ।

ह०/
(एम० पी० ठक्कर)
अध्यक्ष

ह०/
(पी० एम० बख्शी)
सदस्य

ह०/
(बाई०वी० अंजनेयुलु)

ह०/
(जी० वी० जी० कृष्णमूर्ति)
सदस्य-सचिव

नई दिल्ली, तारीख 19 अगस्त, 1989

टिप्पण और संदर्भ

अध्याय-2

1. उपरोक्त पैरा 2.2 ।

अध्याय-3

1. **शीला** बनाम **जीवनलाल,** अखिल भारतीय रिपोर्टर 1988, आन्ध्रप्रदेश 275, 277, 278 (अगस्त) (श्रीमती अमरेश्वरी और भास्कर राव, न्यायाधीश) ।

2. **बाई तारा** बनाम **मोहनलाल,** अखिल भारतीय रिपोर्टर 1922 मुम्बई 405 ।

3. **सरस्वती बाई** बनाम **श्रीपद वासनजी वेद,** अखिल भारतीय रिपोर्टर 1941, मुम्बई-103 ।

4. **मुन्नीबाई** बनाम **धनुश,** अखिल भारतीय रिपोर्टर, मुम्बई 243 ।

5. **चन्द्र प्रभा** बनाम **प्रेमनाथ कपूर,** अखिल भारतीय रिपोर्टर 1969, दिल्ली 283 ।

6. **नरेन्द्र कौर** बनाम **परशोत्तम सिंह,** अखिल भारतीय रिपोर्टर 1988 दिल्ली 359, 361 पैरा 5 से 7 (वधवा न्यायाधीश) ।

7. **सरला** बनाम **आनन्दराय,** 17 गुजरात विधि रिपोर्टर 581 ।

8. **राधाबाई** बनाम **सुरेंद्र के मुदलियार,** अखिल भारतीय रिपोर्टर 1971 मैसूर 69, 70, 71 पैरा 6–8 (मलीमठ न्यायाधीश) ।

9. **मंसा देवी** बनाम **मखर,** अखिल भारतीय रिपोर्टर 1936 पेशावर 207 (मिडलरन, न्यायिक आयुक्त) ।

10. **बख्शी राम तथा राम** बनाम **शीला देवी,** अखिल भारतीय रिपोर्टर 1960, पंजाब 304, 305 (डी० के० महाजन न्यायाधीश) ।

11. **गंगाबाई** बनाम **भेरूलाल,** अखिल भारतीय रिपोर्टर 1976 राजस्थान 153, 155, 156 (वी० पी० त्यागी, कार्यकारी, मुख्य न्यायाधीश) ।

अध्याय-4

1. **निरोध बारानी दिव्या और एक अन्य** बनाम **भोलानाथ सरकार और एक अन्य,** अखिल भारतीय रिपोर्टर 1915 कलकत्ता 435, **गुलाबबाई और लीलबाई, अप्राप्तवय के विषय में,** अखिल भारतीय रिपोर्टर 32, मुम्बई 501 ।

2. **सत्येन्द्र नाथमित्र** बनाम **चक्रवर्ती,** अखिल भारतीय रिपोर्टर 1981 कलकत्ता 206 ।

मप्रभासमृना—वि० 4—326मिनीस्ट्री आफ लॉ अॅन्ड जस्टीस/(एनडी)/89—25-1-91—600

P.LD.92CXXXIII(H)
600—1990 (DSK IV)

मूल्य : (देश में) रू० 44.00 (विदेश में) पौंड 5.14 सिलिंग या डॉलर 15 84 सेन्टस्

महाप्रबंधक, भारत सरकार मुद्रणालय, नाशिक-422 006 द्वारा मुद्रित
तथा प्रकाशन नियंत्रक, भारत सरकार, दिल्ली-110 054 द्वारा प्रकाशित

PRINTED BY THE GENERAL MANAGER, GOVT. OF INDIA PRESS, NASHIK-422 006
AND PUBLISHED BY THE CONTROLLER OF PUBLICATIONS, DELHI-110 054
1991